अनहारी
हरियाली
केदारनाथ अग्रवाल

अनहारी हरियाली

केदारनाथ अग्रवाल

साहित्य भंडार
इलाहाबाद 211 003

I S B N : 978-81-7779-183-4

❁

प्रकाशक

साहित्य भंडार

50, चाहचन्द, इलाहाबाद–3

दूरभाष : 2400787, 2402072

❁

लेखक

केदारनाथ अग्रवाल

❁

स्वत्वाधिकारिणी

ज्योति अग्रवाल

❁

संस्करण

साहित्य भंडार का

प्रथम संस्करण : 2009

❁

आवरण एवं पृष्ठ संयोजन

आर० एस० अग्रवाल

❁

अक्षर–संयोजन

प्रयागराज कम्प्यूटर्स

56/13, मोतीलाल नेहरू रोड,

इलाहाबाद–2

❁

मुद्रक

सुलेख मुद्रणालय

148, विवेकानन्द मार्ग,

इलाहाबाद–3

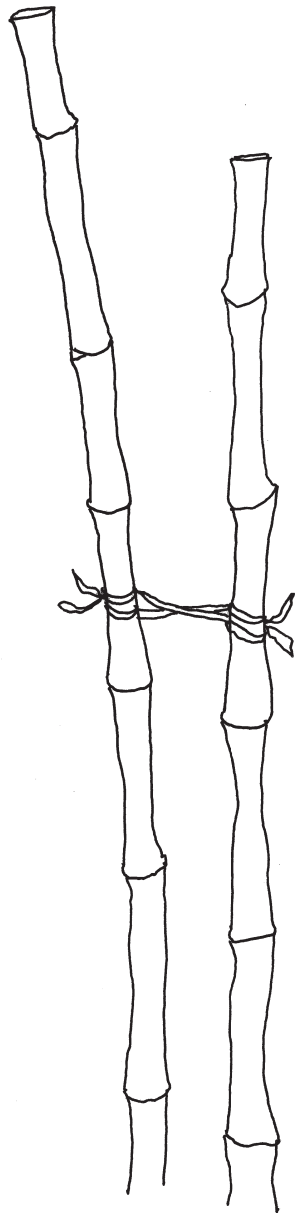

मूल्य : 150.00 रुपये मात्र

अनहारी हरियाली

प्रिय अशो त्रिपाठी
को
सस्नेह

प्रकाशकीय

इस संकलन का प्रकाशन 'साहित्य भंडार' के प्रथम संस्करण के रूप में सम्पन्न हो रहा है। केदारजी के उपन्यास 'पतिया' को छोड़कर, उनके शेष समस्त लेखन को प्रकाशित करने का गौरव भी 'साहित्य भंडार' को प्राप्त है। केदारनाथ अग्रवाल रचनावली (सं० डॉ० अशोक त्रिपाठी) का प्रकाशन भी 'साहित्य भंडार' कर रहा है।

एक तरह से केदार-साहित्य का प्रकाशक होने का जो गौरव 'साहित्य-भंडार' को मिल रहा है उसका श्रेय केदार-साहित्य के संकलन-संपादक डॉ० अशोक त्रिपाठी को जाता है उसके लिए 'साहित्य-भंडार' उनका आभारी है। यह गौरव हमें कभी नहीं मिलता यदि केदार जी के सुपुत्र श्री अशोक कुमार अग्रवाल और पुत्रवधू श्रीमती ज्योति अग्रवाल ने सम्पूर्ण केदार-साहित्य के प्रकाशन का स्वत्वाधिकार हमें नहीं दिया होता। हम उनके कृतज्ञ हैं।

भाई आर. एस. अग्रवाल ने इस संकलन को कलात्मक सज्जा प्रदान किया इसके लिए उनका आभार।

सतीशचन्द्र अग्रवाल
विभोर अग्रवाल
2009

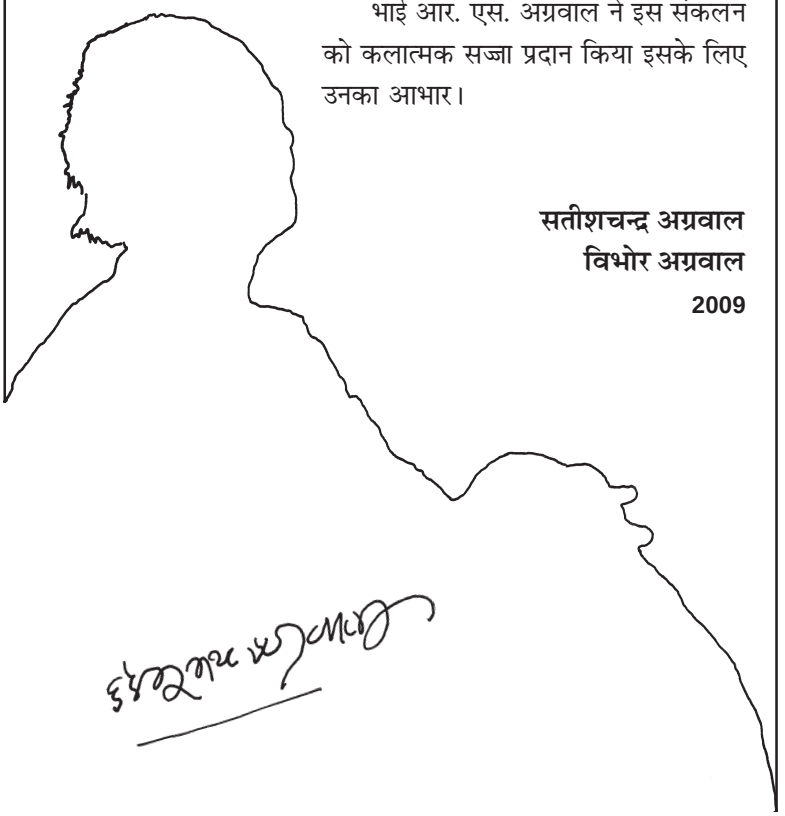

कविता ने मुझे आदमी बनाया

लड़कपन में ही मुझे कविता से प्यार हो गया। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गयी, त्यों-त्यों कविता के प्रति मेरा प्यार बढ़ता ही गया। वह प्यार इतना बढ़ा कि मैं इसकी बाढ़ में बहता ही चला गया। किताब में छपी-शब्दों में लिखा कविताएँ मुझे जी-जान से ज्यादा प्यारी लगने लगीं। अकेले में उन्हें पढ़ता और मुग्ध होता—आस-पास की दुनिया भूल जाता। शब्द—गूँगे शब्द मुझसे बोलने लगते और मैं उन्हें सुनते-सुनते उनका अर्थ समझने लगता। वे बोले बोल आदमियों के बोले बोलों से अधिक प्राणवंत लगते, मेरे अन्दर पैठते चले जाते। मैं उनका हो जाता। वे मेरे हो जाते। बस इस तरह जीने में मजा आने लगा और मैं, हर हमेशा, कविताओं की दृष्टि से ही जग, जीवन और समाज का रूप निरखने-परखने लगा। कविता की धड़कनें मुझे समाज में मिलतीं और समाज की धड़कनें कविता में। मेरा इन्द्रियबोध कविताओं में आकर संवेदनशील बना। मेरे अनुर्वर मन में न जाने कहाँ की उर्वरता आई कि वह रूप-स्थली बन गया और पल्लवित और पुष्पित होकर भाव-विभोर करने लगा। उस समय तक मेरी मानसिकता विकसित होकर परिपक्व न हुई थी—न मेरा अपना सृजनधर्मी विकास हुआ था। फिर भी मैं कविता को ही सर्वस्व समझने लगा था। नतीजा यह हुआ कि मैं धीरे-धीरे, कविता के मधुर संस्पर्शों से अपने अविकसित मन को विकसित करने लगा। कविता के द्वारा अपनी चेतना को जागृत करने लगा। कविता ने ही मानवीय चेतना से मेरा साक्षात्कार कराया। कविता ने ही मेरी मानवीय चेतना को काव्य-चेतना बनाया। मैं जीवन जीने के लिए काव्य-चेतना को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझने लगा। मुझे ज्ञात होने लगा कि काव्य-चेतना की सृष्टि ही कृतिकार को पूरा विकसित करती है और उसे मर्त्य से अमर्त्य बनाती है। वह वाणी जो दैनिक जीवन के प्रसंगों में प्रयुक्त होती है, वही काव्य-चेतना का अवलम्ब पाकर आत्म-प्रसार करती है और कृतिकार के उसी आत्म-प्रसार से दूसरों का आत्म-प्रसार होता है।

तब जाकर आदमी-आदमी से जुड़ता है और विश्व-बंधुत्व का पथ प्रशस्त होता है। सारांश यह कि कविताओं ने मुझे आदमी बनाया कि मैं संसार में रहूँ और जिऊँ और उसके द्वन्द्व और संघर्ष को झेलूँ और मानवीय मूल्यों के सत्य को पकड़ और वही-वही लिखूँ-रचूँ, सृष्टि करूँ जो अन्दर और बाहर के यथार्थ को बेधे—सत्य की अभिव्यक्त हो—और लोक को आलोक देकर सृजन की मानवीय सार्थकता सिद्ध करे। यही है मेरी रचना-धर्मिता का आधार जिसे मैंने पूरे मनोयोग और बुद्धि-विवेक से अपनाया है और अपनाये हूँ।

एक दूसरे प्रकार की रचना-धर्मिता भी होती है। वह आत्म-निर्वासन की मौलिक रचना-धर्मिता के नाम से जानी जाती है। ऐसी रचना-धर्मिता के पालक-पोषक कृतिकार व्यक्ति-केन्द्रित मौलिकता को ही सर्वस्व मानते हैं। वे मौलिकता को बाहर से नहीं प्राप्त करते—न उसे संघर्ष करके पाई जा सकने वाली मानते हैं। वह अपने जन्म के साथ उसे लेकर आते हैं और उसी को यथानुरूप व्यक्त करते रहते हैं। वह एक तरह की उनकी अपनी विशिष्ट पहचान बनाती है। ऐसे कृतिकार न बाहर का देय स्वीकार करते हैं—न भीतर का गृहीत योग स्वीकार करते हैं। वह प्राकृत-प्रदत्त मौलिकता को ही व्यक्त करने में अपने मानवीय जीवन की सार्थकता समझते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं, केवल अपने लिए लिखते हैं। वह लिखा उन्हीं का निजी खाता होता है। यह कृतिकार संसार में रहकर भी संसार के नहीं होते। देश और काल के मानवीय बोध का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। इतिहास का कोई महत्व उनके लिए नहीं होता। वह दूसरों के लिए खोये हुए व्यक्ति होते हैं। न वह अपने को सामाजिक दायित्व से जी पाते हैं, न उनके निर्वाह के लिए प्रयास करते हैं। वह अपनी मौलिकता को अंदर-ही-अंदर अपने अहं-बोध के अकेलेपन में पकाते रहते हैं। न दूसरों का कृतित्व उनके काम का होता है—न उनकी नजर में उसका कोई मूल्य होता है। मैं ऐसी मौलिकता का कृतिकार नहीं हूँ। मैं तो अपनी पूरी मानसिकता संसार से अर्जित करता हूँ और देश-काल में रहकर अपनी चेतना को मानवीय मूल्यों की चेतना बनाता हूँ, ताकि उससे कविताओं की सृष्टि कर सकूँ। मेरी कविताएँ आदमी को आदमी बनाने के लिए प्रयुक्त होती हैं। वह कविताएँ मेरी होकर भी दूसरों की होती हैं। मैं उसी में अपनी

मौलिकता समझता हूँ कि जो कुछ मैं लिखूँ वह सत्य-दर्शी बिम्बन हो—मेरा ही नहीं दूसरों का भी हो। मैं मानता भी हूँ कि मानवीय चेतना उत्तरोत्तर विकसित होती चल रही है। वह न अतीतमुखी हो, न व्यक्ति-केन्द्रित हो, न निर्वासित हो, न जन-जीवन से कटकर भ्रांतियों से ग्रस्त हो। जीवन के अबाध प्रवाह को व्यंजित करनेवाली चेतना ही कविताओं का आधार हो। यही है मेरी धारणा। मेरी कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

मेरे काव्य-संकलन—नींद के बादल—में मेरी काव्य-चेतना के प्रारम्भिक काल की रचनाएँ हैं। वे रचनाएँ मेरे तब के मानवीय बोध को व्यक्त करती हैं, जब मैं पारम्परिक जीवन जीने की पद्धति में कभी स्वत:स्फूर्ति की भावना से कविताएँ लिखता था तो कभी तथाकथित प्रचलित अध्यात्मवादी भावना से। लेकिन लिखता था तो पूरी तरह से अपने सहज, सरल कथ्य और शिल्प से ही लिखता था। मेरा वह लेखन, न तो प्रमुख रूप से शास्त्रीय होता था, न रीतिवादी। वह तब भी आम आदमी की चेतना को ही व्यंजित करता था। इसीलिए सहजानुभूतियों की अभिव्यक्तियों के कारण प्रिय होता था।

लेकिन बाद को उत्तरोत्तर मेरी मानसिकता वैज्ञानिक होने लगी—समाजवादी होने लगी, यथार्थवादी होने लगी और जीवन की आलोचनात्मक व्याख्या करने लगी। ऐतिहासिकता और द्वन्द्वात्मकता के परिप्रेक्ष्य में मैं सत्यदर्शी होने लगा। तब मैंने जाना कि मुझे सत्यदर्शी होना चाहिए और मेरी काव्य-चेतना को अब इस सही और सार्थक मानवतावादी दिशा की ओर जाना चाहिए, ताकि समता, न्यायप्रियता, मानवीय विवेक की रचनाएँ रच सकूँ। फिर क्या था, मैंने कविता में अपने इस नये आत्मविस्तार को व्यक्त करना शुरू कर दिया। लक्ष्य यही रहा कि विषमता का—अन्याय का—शोषण का—असमानता का—स्वार्थपरता आदि-आदि का परदाफाश किया जाय और जो महान मानवीय मूल्यों का मानवतावाद है, उसका पक्ष लेकर, उसी के समर्थन और संवर्धन में कविताएँ लिखी जायें। मैंने कर्मशील मनुष्यों की करनी की महत्ता जानी और मैं उसे अपनी रचनाओं में सगर्व, साहस के साथ व्यंजित करने लगा। गरीबी के अभिशाप से तड़पते लोगों की व्यथा मेरी व्यथा बन गई। मैं उस व्यथा को भी कविता में व्यक्त करने लगा। जो

अध्यात्मवाद आदमी को जग-जीवन से उठाकर परमात्मवाद में ले जाता था, मैंने उस परमात्मवाद को नकारा और आदमी को ही श्रेष्ठ प्राणी माना। मेरे लिए आदमी का विकास ही सब कुछ हो गया। अतएव मैं व्यक्तिकेन्द्रित न होकर समष्टिकेन्द्रित हो गया। मेरी काव्य-चेतना में पूर्ण परिवर्तन आया और मैं पहले के 'मैं' से अलग होकर, एक ऐसा 'मैं' हो गया जिसे सबका 'मैं' कहा जा सके। मेरे काव्य-संकलन—युग की गंगा—में मेरी ऐसी परिवर्तित मानसिकता (चेतना) की रचनाएँ हैं। फिर यही क्रम चालू रहा। मेरे अन्य संकलनों में इस तरह की रचनाएँ संगृहीत हैं।

मैंने ऊपर कहा है कि कविताएँ मुझे आत्मीय बना लेती हैं और मैं और वे एक हो जाती हैं। आज तक मैं इसी एकता को बनाये हूँ। अब, इधर इस बुढ़ापे के दौर में आकर, मैं कुछ सिमट-सा गया हूँ और बाह्य प्रभावों को वैसे ही ग्रहण करने के योग्य नहीं रह गया हूँ, जैसे पहले था। तब मुझे कविताओं की तलाश में जाना नहीं पड़ता था। अब उन्हें ढूँढ़ना पड़ता है—पास बुलाना पड़ता है। फिर भी उन्हें पाने की तीव्र ललक लहकती रहती है। उनके न मिलने, पर खीझ होती है। ऐसी मन: स्थिति में रहते हुए कुछेक कविताएँ मैंने लिखीं। वे इस संकलन में हैं। ऐसी मन:स्थिति की ये रचनाएँ इसीलिए यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ ताकि मेरी काव्य-चेतना की पीड़ा व्यक्त हो और दूसरों को मेरी इस पीर की अनुभूति हो। कविताओं का न मिलना, मेरे लिए जीवन की सार्थकता न मिलने के समान है। सार्थकता इसी में होती है कि आत्म-प्रसार हो और जब आत्म-प्रसार नहीं हो पाता, तब मानवीय जीवन का विकास-क्रम रुक-सा जाता है। यह किसी और के लिए कुछ भी महत्व का न हो, पर मेरे लिए सबसे अधिक महत्व का है। मैं आत्म-प्रसार करते रहने को ही जीते रहने का पर्याय मानता हूँ। इसीलिए कविताओं के लिए निरन्तर तड़पता रहता हूँ कि मैं उन्हें पाता रहूँ और जीता रहूँ। मेरी ये कविताएँ बैठे-ठाले की मन:स्थिति की लिखी कविताएँ नहीं हैं। इसलिए इन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता। न ये कुतूहल के लिए लिखी गईं हैं, न मन बहलाव के लिए। कवि कर्म के अवरुद्ध हो जाने पर मुझे अपने दायित्व के निर्वाह न कर पाने का तात्कालिक बोध हुआ और मैं तिलमिला गया। प्रत्येक कवि को—चेतना की काव्य-सृष्टि करने वाले

को—ऐसी तिलमिलाहट होनी चाहिए। यह तिलमिलाहट ही कवि-कर्म में आए अवरोध को तोड़ने की क्षमता देती है।

आजकल नगरों, महानगरों में ऊँची-से-ऊँची बहुमंजिली इमारतें जमीन से उग गई हैं, जैसे बहुत पहले के उग आये छतनार बरगद के आकाश चीरते पेड़ हों। इस इमारतों में रहते लोग बहुत ऊँची दरों के किराये देते हैं और इनको तरह-तरह से सजाये रखकर भी, सुख-सुविधाओं के साथ रहते हुए भी असंतुष्ट ही रहते हैं। इनमें रहकर भी इनसे दिन-प्रतिदिन दूर-दूर तक अपने काम-काज के लिए स्कूटरों, बसों और मोटरों से जाना पड़ता है। बच्चे-बच्चियों को उनके स्कूलों तक पहुँचाना और लाना पड़ता है। इन गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहने वालों को सड़कों पर जाने-आने के समय दुर्घटनाओं से बचने का प्रयास नित्यप्रति करना पड़ता है। सामान लाने के लिए, खरीद-फरोख्त करने के लिए कई बार भागदौड़ करनी पड़ती है। ऐसे लोग इन इमारतों में रहकर भी सुरक्षित नहीं महसूस करते। इसके विपरीत ऐसे भी मकान हैं जो सौ साल से बने हुए हैं—ईंटों की बनी दृढ़ देह के। रहाइश की जरूरी सुविधाएँ देते रहते हैं और किरायेदारों को कम किराये पर टिकाए भी रहते हैं। ये ऐसे लगते हैं जैसे परिवार के बड़े अनुभवी हितचिंतक बुजुर्ग हों। ऐसे ही एक पक्के दीर्घजीवी बुजुर्ग मकान को मैंने देखा है। वह युवा किरायेदारों को अपनी छत्रछाया में सुख-सुविधा से टिकाए अडिग आस्था से जीवंत खड़ा था और समयाघात सहते हुए भी रवि रंगों से रंजित था। वह मेरा आत्मीय बन गया। मैंने इस आत्मीय से प्रेरित होकर उस पर कविता लिख डाली। छोटी है पर प्रिय है। महापुरुषों के मकानों को लोग अक्सर याद कर लेते हैं पर ऐसे मकान को न देखते हैं—न याद रखते हैं। मैंने मकान को काव्य-चेतना से रचनात्मक रूप देकर वह प्रतिष्ठा दी है, जो उसे न मिल सकी थी।

नीलगिरि पर्वत प्रदेश पर ऊटी स्थित है। वहाँ पाँच-छः दिन 'सेवाय' होटल में अपने पुत्र अशोक के साथ रहा। आस-पास का दृश्य देखने को मिला। ऊँचे से ऊँचे महाबली पेड़ ऊँचाई पर खड़े आसमान चीरते दिखे। मेरे मन में दृश्य प्रविष्ट हो गये। मेरी काव्य-चेतना ने उन्हें अपनाया और कविता बनाया। लेकिन जो काव्य-रूप बना वह विवरणात्मक न होकर मूल मनोभावना को व्यंजित करने वाला हुआ।

यह इसलिए हुआ क्योंकि अब इस उम्र में वाक्य-बहुल नहीं रह गया। जो कहना चाहता हूँ, वह कम शब्दों में कह देता हूँ। हाँ ऐसे कहने के अपने खतरे होते हैं। मैंने उन खतरों से बचने का भरसक प्रयास किया है। प्रयास में सफल भी हुआ हूँ। अब पाठकों पर निर्भर है कि वह कहाँ तक मेरे कहे से प्रभावित होते हैं। एक बात और। प्रभावित होने के लिए भी पाठकों को सहृदयता से कविता तक जाना और स्वीकार भाव से उसे अपनी समझकर अपनाना चाहिए। ऐसा न होने पर कविता—अच्छी कविता—भी नहीं बोल पाती, न अपना देय दे पाती है।

पेड़ मुझे इतने अच्छे लगते हैं कि मैं उन्हें अपने आसपास खड़े अपना अग्रज समझ लेता हूँ। क्या नीम, क्या बबूल, क्या बेल, क्या अशोक, क्या चिल्ला—सभी तरह के भाँति-भाँति के व्यक्तित्व के—जब-जब मैं धूप-घाम में या अरुणोदय के समय या संध्या समय इनके समीप पहुँचता हूँ तो इनकी दृढ़ आस्था से—इनके तप और तपस्या से अभिभूत हुए बिना नहीं रहता। मुझे ये कालजयी लगते हैं। महाबली तो हैं ही। यदि ये मेरे आसपास न हुए होते तो मैं अकेला पड़ जाता और मेरी काव्य-चेतना विलुप्त हो जाती। मैं मानता हूँ कि आदमी को जीने और विकास करने के लिए जितनी आदमियों की आत्मीयता चाहिए, उतनी ही प्रकृति के इन महान सपूतों की। मुझे उनकी आत्मीयता प्राप्त है और मैं जीवंत और प्राणवंत हूँ।

'दूरदर्शन' के कार्यक्रम भी देखता रहता हूँ। वहाँ से प्रसारित हुए कवि सम्मेलन देखे और सुने। मुझे कुछ भी प्राप्त न हुआ। खिन्न हुआ। इसकी भी अभिव्यक्ति मैंने कविता में की। मुझे लगा कि कवि-सम्मेलन मात्र तमाशा होकर रह गया है। मैं जानता हूँ कि कवि-सम्मेलन में गहन-गंभीर रचनाएँ नहीं पढ़ी जा सकतीं। फिर भी कवि-सम्मेलन ऐसा तो हो कि सुननेवालों को कुछ अच्छा पाने की अनुभूति हो। सुनो तो ऐसा लगता है कि प्रत्येक कवि अपनी खँजड़ी अपने ढंग से बजा रहा है। कुछ कवि-सम्मेलनों से कविता का स्तर बजाय ऊँचा होने के नीचे गिरता जा रहा है। दशा शोचनीय है।

जून की बीस तारीख की रात को दिल्ली दूरदर्शन का 'प्रश्नोत्तर' कार्यक्रम अत्यन्त सफल रहा। प्रश्नकर्त्ता थे श्री इन्द्रनाथ चौधरी। उत्तरदाता थे मलयालम भाषी श्री पिल्लई। घेराव करते थे श्री चौधरी।

घेरा तोड़-तोड देते थे श्री पिल्लई। मार्क्सवादी भूमिका और उसकी प्रासंगिता को सार्थक सिद्ध कर सके श्री पिल्लई। यह कार्यक्रम अपने आप में अनूठा था। लेकिन संवाद अँग्रेजी में था। फिर भी सुनकर तृप्ति हुई।

नौ जून, 1988 ई० को, दस बजे दिन मास्को रेडियो से 'स्टालिन कल्ट' के बारे में प्रसारण हुआ। मैंने सुना। जो सुना उससे तबकी की गई ज्यादतियों का भंडा-फोड़ हुआ। एक तरह का रहस्योद्घाटन हुआ। जानकारी प्राप्त कर आश्वस्त हुआ कि भविष्य में फिर से ऐसा न होगा वहाँ। पिछली गलतियों के निराकरण के उपाय होंगे। मानवीय गरिमा वहाँ फिर से स्थापित की जायगी। 'पुनर्गठन' और 'खुलापन' समस्याओं का समाधान करेगा, यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसे भी मैंने कविता में व्यंजित किया ताकि यह सबकी चेतना में अंकित हो।

मास्को में सम्पन्न हुई 'निरस्त्रीकरण वार्त्ता' का प्रसारण भी मैंने देखा और सुना। गोर्बाचोव और रेगन के बीच यह वार्त्ता दोनों महाशक्तियों के बीच हुई। दोनों महाशक्तियाँ पास आईं। सफल हुई शांति के पहले पड़ाव की यह योजना। ज्ञात हुआ किमूल में समाजवाद मानवीय मूल्यों की व्यवस्था है—लोकतंत्री आस्था की—कर्मशील जीवन की रचना है। दो जून सन् 1988 का दिन सार्थक हुआ।

आतंकवाद के विरोध में एक कविता लिखी। इस संकलन में है यह समाधान नहीं समस्या है। जटिल है। जघन्य अपराध है।

इधर मेरे कृतिकार को नकारने का प्रयास कुछेक व्यक्तियों ने किया है। मैंने इसे, किसी आधार पर उचित नहीं समझा। मैंने इसके प्रतिवाद में उन प्रयासकर्त्ताओं को आगाह किया है और उन्हें बताया है कि मेरे किये दिये को कोई नष्ट नहीं कर सकता है—मैं उनके किसी भी प्रयास से परे हूँ और वे मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। यह उनकी सामर्थ्य के बाहर है कि मेरे कृतिकार का बाल बाँका कर सकें। ऐसा करना आवश्यक समझ कर ही मैंने इस संबंध में वे कविताएँ लिखीं और इस संकलन में दीं। मैं नहीं जानता कि मेरी इन कविताओं का इन प्रयासकर्त्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि वे थोड़ी देर के लिए भी अपने ऐसे किये पर सोचने को विवश हुए तो मैं समझूँगा कि मेरा प्रतिवाद करना सार्थक हुआ। यदि वे सोच में न पड़े और दिग्भ्रमित ही बने रहे

तो मैं समझूँगा कि वे मेरी दया के पात्र हैं। मेरे काव्य के प्रेमी दूसरे लोग भी उन्हें दया का पात्र समझेंगे। अच्छा होता कि प्रयास यह होता कि मेरा कविताओं का पूरी तरह से अध्ययन किया जाता और तब उनके गुण-दोष की विवेचना प्रस्तुत की जाती। ऐसा करने से मुझे भी अपने दोषों का ज्ञान होता और मैं भविष्य में उनसे बचने की पूरी कोशिश करता। यदि वैसी विवेचना भी तर्कसंगत न ठहरती तो मैं उसका भी तर्कसंगत उत्तर देता। ऐसी आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक प्रक्रिया से कवि-कर्म का महत्व उजागर होता है और दूसरों को सही दृष्टि और दिशा मिलती। खेद है कि साहित्य में भी आतंक फैलाने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी है।

मैं नहीं मानता कि कोई ऐसा अस्तित्व है जो सबके अस्तित्वों का कारण है—जो सर्वज्ञ है—जो अजन्मा है—जो निर्लिप्त है—जो न देश में है न काल में—फिर भी सृष्टिकर्त्ता है, नियंता है। वह अस्तित्व में न आया व्यक्तित्व है। मैंने उसे परखनली में पड़ा प्रवाद कहा है। यह मेरे चिंतन की अभिव्यक्ति है। ऐसा कहकर मैंने कोई विवाद नहीं खड़ा किया। न मैंने ऐसे अस्तित्व माननेवालों के प्रति कोई धृष्टता की है, या अशोभनीय बात कही है। न मैंने किसी ऐसे व्यक्ति को कोई कष्ट पहुँचाने का दुस्साहस किया है। कविता मानवीय मूल्यों की सृष्टि होती है। वह न अतिचार की सृष्टि करती है, न व्यभिचार या यौनाचार या उद्धतवाद की। कवि का सृजन गुणात्मक कोटि का होकर मानवीय बोध को संवेदनशील और संप्रेषणीय बनाता है। मानवीय बोध सांस्कृतिक बोध का पयांय बन जाता है। इसीलिए ऐसे मानवीय बोध की अभिव्यक्ति, कवि कलात्मक ढंग से करता है कि उसकी यह कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक आत्म-प्रसार पा सके और जन-मन को निजी भाव बोध से उबारकर, बाहर निकालकर, सजग सुन्दर सत्यदर्शी बनाये ताकि वह शिवम् का प्रस्तोता बन सके।

मैं यह भी कहना चाहूँगा कि कविता के बिना मानव जैविक जीवमात्र होता है। कविता ने उसे वह इन्द्रिबोध दिया, जो सूक्ष्म संवेदनशील हुआ, जो जड़ को चेतन, प्रकृति को रम्यरूपा और मानवीय बना सकने में सहायक सिद्ध हुआ। न कवि होते—न कविता होती, तो न आदमी आदमी होता, न नर नारी का प्रेम होता, न यौवन-उभार की

लावण्यलीला होती, न प्रकृत प्रिया होती, न उर्वशी होती, न शकुन्तला होती, न मेनका होती, न उसको पाने के लिए इतने-इतने संघर्ष होते, न स्वर्ग की कल्पना होती, न नरक की कल्पना, न कटाक्ष और चपला का चमत्कार होता, न पार्वती होती, न शिव के पाने के लिए तपस्या करतीं, न महाकवि कालिदास ने कुमार संभव, मेघदूत, रघुवंश, शकुंतला आदि काव्यग्रंथ प्रणीत किए होते। कविता के अभाव में आदमी रोबोट हो जाता। सौन्दर्य, नैतिक-अनैतिक से परे होता है। नैतिक होकर भी आदमी ने सौन्दर्य देखा और पाया है। जब बिजली चमकती है तब कटाक्ष करती है, और तब नैतिक-अनैतिक कुछ नहीं होता। तब आदमी कटाक्ष से विभोर होता है।

अंत में अपने आत्मीयजनों और हितैषियों के प्रति अभार प्रकट करता हूँ, जिनसे मुझे बल मिलता है। अपने नगर के सर्वश्री रामप्यारे राय, एहसान आवारा, नरेन्द्र पुंडरीक, श्रीमती मनोरमा अग्रवाल, बी० के० राय, जयकांत शर्मा, आनंद सिन्हा, जगतनारायण शास्त्री, पूरनलाल अग्रवाल, शिवशरण गुप्ता, कौशलकिशोर गुप्ता, रामेश्वर भाई, ओम बाबू, विश्वप्रकाश सिन्हा, नीलू, रामविशाल सिंह, चन्द्रपाल कश्यप और रामसजीवन पांडे आदि के प्रति आभारी हूँ।

इलाहाबाद के शुभचिंतकों में, डॉ० आशा गुप्त, बालकृष्ण पांडेय, डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र, ओंकार शरद, डॉ० विजय अग्रवाल, राधारमण अग्रवाल तथा योगेश अग्रवाल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

अपने भतीजों का भी आभारी हूँ कि ये मुझे हर तरह की सुविधा प्रदान करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहते हैं।

अपने एकमात्र प्रकाशक श्री शिवकुमार सहाय को तो मैं हमेशा ही याद करता रहता हूँ साथ ही अशोक त्रिपाठी को भी। इम्पैक्ट के श्री राधेश्याम जी मेरी पुस्तकों को सजा सँवारकर प्रस्तुत करते हैं, जो कलात्मक बनाते हैं। मैं उन्हें भी स्नेह के साथ स्मरण करता हूँ।

1 अप्रैल, 1990 **—केदारनाथ अग्रवाल**

बाँदा (उत्तर प्रदेश)

अनुक्रम

कविता का शीर्षक या पहली पंक्ति	रचना-तिथि	पृष्ठांक
सौ से अधिक साल का बूढ़ा	27-9-87	19
देश अब विदेश में	2-10-87	20
मौन गान गायक मुँह खोले	1-12-87	21
खोये आदमी	3-6-87	22
अब मुझ बूढ़े के	21-12-87	23
जितना मिला	28-12-87	24
जो न देखा	28-12-87	25
हमने बान न मारे	25-12-88	27
बादल की बेटी	27-2-88	28
आज सुबह से	4-3-88	29
मुँह बोला	5-3-88	30
शब्द-शब्द की	5-3-88	31
सम्भावित नहीं	14-3-88	32
मैं नहीं जीता उसको	17-3-88	34
रात गई पर छोड़ गई—	6-1-88	35
तुमको देखा—	7-1-88	36
न कुछ के लिए लड़ पड़ते हैं	9-1-88	37
कैद है सत्य-संज्ञान की रोशनी	9-1-88	38
मानव-मक्कारी के	14-1/30-8-89	40
दिन हो, या हो रात	18-1-88	41
ये जो अग्रज पेड़ खड़े हैं	19-1-89	42
न जाओ तुम—	21-1-88	43

बैठी आँख में बैठा सूरज	21-1-88	45
आज दिखी फिर मुझे गिलहरी	24-2-88	46
ठनी ऐसी	24-2-88	48
हे मति-हारे !	2-2-88	49
सम्पन्न हुई मास्को में	3-6-88	51
आसपास दूर-दूर	6-6-88	54
भा भिंसार उजाला फूला	8-6-88	55
न सूर्य है, न सूर्य की धूप	8-6-88	56
घूमती धरती	8-6-88	57
दिन दस बजे	9-6-88	58
रात देखना-सुनता रहा	9-6-88	60
नरेन्द्र पुण्डरीक ने दिया	11-6-88	61
निष्पंद खड़ा रहा	11-6-88	62
न आई पास	12-6-88	63
न मिली आज भी	10-6-88	64
तमाम दिन घोंसले में घुसी रही	18-6-88	65
भू-पटल पर उतर आई	19-6-88	66
रात दूरदर्शन में	19-6-88	67
प्रसारित हुआ आज दोपहर	20-6-88	68
रात दूरदर्शन में देखने को मिला	20-6-88	70
गत रात 'दूरदर्शन' में देखा	21-6-88	71
दिन में आये दुर्लभ बादल	22-6-88	74
न घटा कुछ ऐसा कि लिखता	23-6-88	75
पैदा तो हुआ	26-6-88	76
इतवार का भाई सोमवार	27-6-88	78
'होने' में 'न होना'	29-6-88	79
अंतिम दिन है आज	30/6+1-7-88	80
सूर्य की अभिव्यक्ति हुई	17-7-88	81

आज इतवार है	24-7-88	82
नीड़ छोड़-छोड़ उड़े	26-7-88	83
होश में बेहोश हूँ मैं	26-9-88	84
तारों ने ऊपर से देखा	29-9-88	85
तुम न आओ धूप में	8-10-88	86
प्रिया प्रियम्वद	18-11-88	87
मैं अटका पत्ता हूँ	19-8-88	88
चुप हूँ फिर भी	3-12-88	89
तुम वहाँ हो—मैं यहाँ हूँ	9-12-88	90
काल के फैलाव का लम्बा सफर है	9-12-88	91
पकड़ में आई मछली	28-12-88	92
क्रोध तुम्हारा मैं पी लूँगा	27-1-89	93
छोटे-बड़े कई मोड़ों के	10-3-89	94
पात-पुंज सिर ऊपर धारे	13-3-89	95
ऊदे नीले श्याम शरीरी	13-3-89	96
सूरजमुखी दुपहरी ने तो	13-3-89	97
ऊँचे पेड़ों की ऊँचाई से भी ऊँची	13-3-89	98
नीलगिरी पर्वत-प्रदेश के	14-4-89	99
भावावेशी उन आँखों की	17-3-89	100
न पहुँचे वहाँ, पहुँचना था जहाँ	16-9-89	101
मोती-मार प्यार का पानी	5-7/19-9-89	102
रात, देर तक	6-7/19-9-89	104
वह नहीं लड़ता अपनी लड़ाई	16-9-89	106
सुबह हुई पर, धूप न निकली	27-7-89	107
सहज लजीली पंखुरियों की	23-9089	109
बाहर कोयल कुहक रही है	24-9-89	110
टूटे तारे—आँसू हुए हमारे	8-9-89	111
न ज्ञान की आँख	23-9-89	112

ये मेरे जाने-पहचाने	26-9-89	113
हुआ जो हुआ है	26-9-89	114
आदमी जेब काट रहा है—	29-9-89	115
आदमी डूबता है	4-10-89	117
न लिखे को लिख रहा हूँ मैं	10-11-89	118
इधर पूर्व से झाँका सूरज	16-11-89	119
मैं नहीं सूरज	1-1-90	120
दो जनवरी के दिन को सम्बोधित	2-1-90	121
बोगन बेलिया को फूली देखकर	4-1-90	123
कुंदहासी चाँदनी है और मैं हूँ	5-1-90	124
अरे धूप महारानी आओ	6-1-90	125
आते-आते कल आई तो	8-1-90	127
अरे, धूप महारानी!	9-1-90	129
जब मुंशी महराज की!	12-1-90	130
जब अच्छा भी न लगे तुम्हें अच्छा	8-2-90	132
बोगनबेलिया	13-4-90	133
कोई आये या न आये	13-5-90	134
मैं अकेला भी नहीं	16-5-90	135
मैं समय को मारता हूँ	17-5-90	136
कविता जीवन से जन्मी है	10-7-90	137
सत्रह दोहे	1-9-80 से 25-9-80	138

❐❐

सौ से अधिक साल का बूढ़ा

सौ से अधिक साल का बूढ़ा
दृढ़ जमीन को जमकर पकड़े
खड़ा नींव पर
ईंट-ईंट की देह उठाये ऊपर
युवा किरायेदारों को अपनाये
सुख-सुविधा से
सुखी बनाये
समयाघात सतत सहता है
रवि-रंगों से रंजित रहकर
अडिग बना
जीवित रहता है
'सत्यमेव जयते' जपता है

27-9-1987

देश अब विदेश में

देश
अब विदेश में
महोत्सव मनाता है
सभ्यता
और संस्कृति की
झाँकियाँ दिखाता है
ठुमुक-ठुमुक गाता
और झूम-झूम जाता है
लेकिन जब
वापस घर आता है
न दीप्तिमान रहता है
न सारवान रहता है
भीतर से
बाहर से
दुखा-दुखा रहता है
टिमिक-टिमिक जलता
और बुझा-बुझा रहता है

20-10-1987

मौन-गान गायक मुँह खोले

मौन-गान गायक मुँह खोले
काव्य-किलोल
कला से फूले
लाल गुलाब
गंध से बोले
झूले
काँटों की डाली पर
जी भर झूले

1-12-1987

खोये आदमी

खोये आदमी
सोये संसार में
अस्मिता खोजते हैं
प्रकाश की
सत्यदर्शी आँखें
नहीं खोलते हैं

3-6-1987

अब मुझ बूढ़े के

अब
मुझ
बूढ़े के
एकाकी
मेरुदण्ड पर
अडिग खड़े तरु की तरुणाई
मुदित मंगला
अनहारी
हरियाली आई
छवि से छाई

अब
मेरे
प्रिय प्राण पखेरू
चह-चह चहके
मृत्यु-मर्दिनी
आयुवर्धिनी
प्राकृत मन के
हास-हर्ष की
नवोल्लास की
बानी बोले

21-12-1987

जितना मिला

जितना मिला
दिया उतना ही
कम या ज्यादा नहीं किया
लेना हो तो ले लो उतना
नहीं फेंक दो
कुछ न बने-बिगड़ेगा मेरे दिये-किये का

मेरा दिया
रहेगा मेरा!—
उसी-उसी मुद्रा में जीता—
उसी-उसी को बिम्बित करता
मेरे पाये हुए दिये को व्यंजित करता
कविताओं से कटु यथार्थ को खंडित करता!

28-12-1987

जो न देखा

जो न देखा
कभी पहले
आज देखा
जटाजूटी
खड़ा हठयोगी बबूल
तपतपाती
धूप में अपराह्न तक
मौन
दंडित
देह साधे

शाम को
जब सूर्य
कंचनकाय
शोभित दमदमाता
तब मिला वरदान उसको
पारदर्शी
धार-धार
प्रकाश का

खुश हुआ मैं
खुश हुआ मेरा बबूल
खुश हुई
धूमिल धरा की धूल

28–12–1987

हमने बान न मारे

हमने
बान न मारे
तुमने मारे
तुम जीते–हम हारे,
हुए तुम्हारे–तुमसे हारे

तुमने
बान निकाले
अपने मारे
हम जीते–तुम हारे
हुए हमारे–हमसे हारे।

25–2–1988

बादल की बेटी

बादल की बेटी दामिनी दमकी
आदमी की आँखों में
कामिनी चमकी

बादल मारता रहा बौछार
आदमी खाता रहा बौछार

खेत को मिला पानी
आसमानी
अन्न को
मिली लासानी जवानी

27-2-1988

आज सुबह से

आज
सुबह से
किन्नर-कुल के मोदी बादल
रवि-रंजित
अनुरागी-रागी
रंग-अबीर-गुलाल उड़ाते
धूमधाम से खेल रहे हैं होली
आसमान के
खुले वक्ष के
रंग महल में
खेचर-कुल की किन्नरियों के साथ
देश-काल की
विपुल व्याप्ति में
लुब्ध समाये
महामही को मुग्ध बनाये।

4-3-1988

मुँह बोला

मुँह बोला,
शब्दों ने
गठबंधन खोला,

बंद रहा भीतर का ताला,
बाहर आया नहीं उजाला

काँव-काँव
सगुनाया,
पाहुन पास न आया

छंद छुटे
चल पद से आये,
कविता-कोकिल
साथ न लाये

मिली
प्रचुर
अनमिली
वेदना,
खुली नहीं
अनखुली चेतना

5-3-1988

शब्द-शब्द की

शब्द-शब्द की
अर्थ-अर्थ की,
गाँठें खोलीं–
अब कविता ने विश्व-मोहिनी आँखें खोलीं

देखा
दृग-दर्शन
तो देखा,
दिक्-दर्शन का सपना!
आत्मिक हुई
अनात्मिक फैली
देश-काल की रचना

5-3-1988

सम्भावित नहीं

सम्भावित नहीं–
अवश्यम्भावी हो गयी हैं
राह चलते आदमियों की हत्याएँ,
गाँव-घर में काम करते व्यक्तियों की हत्याएँ

न बच्चों की जान बच पाती है–
न औरतों की

तड़ातड़ चलती हैंगोलियाँ–
गोलियाँ-गोलियाँ,
बम चलते हैं–बम–
सर्वनाश करते बम–नहीं थमते बम!

सब हैं शंकालु–
भयाक्रान्त–
पस्त और पीड़ित,
दिन हो या रात!

सूरज निकलता है जैसे
मौत का गोला निकलता है
पूरब से;
सूरज डूबता है जैसे

अंधकार के महासिन्धु में
आदमी डूबता है
वैसे अनस्तित्व के महासिन्धु में

आतंक समाधान नहीं
समस्या है—
आसुरी तपस्या है
न लौकिक होने की पहचान है,
न अलौकिक होने का अभिज्ञान है!

अपराध है अपराध
जघन्य अपराध है आतंक!
नराधम है आतंकवादी—
प्राणघाती आतंकवादी!

14-3-1988

मैं नहीं जीता उसको

मैं
नहीं जीता
उसको
जो
अकथनीय है–
अनिर्दिष्ट है;
न देश है जो
न काल है जो,
न कालातीत है जो

न स्वर है जो,
न व्यंजन है जो,
परखनली में पड़ा–
मात्र प्रवाद है जो,
अस्तित्व में न आया
व्यक्तित्व है जो

17-3-1988

रात गई, पर छोड़ गई

रात गई,
पर
छोड़ गई–
कोहरे में
डूबा हुआ नगर
साँसें गिनता
और ठिठुरता!

सुबह हुई
तो बिना सूर्य की;
राग-रंग अनुराग न जागे,
हास-लास-उल्लास न जागे,
स्वर सम्मोहक
भाव न जागे,
धुँधली धरती
फीकी लागे!

6-1-1988

तुमको देखा

तुमको देखा–
आज कुमुद को
फूला देखा,
इसमें बिम्बित
वपु विराट
अनुकूला देखा!

7–1–1988

न-कुछ के लिए लड़ पड़ते हैं

न-कुछ के लिए लड़ पड़ते हैं
बात-बात में
भिड़ पड़ते हैं;
न सोचते हैं
न समझते हैं
न जान लेने से डरते हैं;
न जान देने से डरते हैं;
आदमी न हों जैसे
खून के प्यासे–
जंगली जानवर हों जैसे–
लूमर लठैत
मेरे क्षेत्र के लोग

9-1-1988

कैद है सत्य संज्ञान की रोशनी

कैद है
सत्य-संज्ञान की
रोशनी,
पेट के पिटारे में

न ताल ठोंकते हैं कर्मठ हाथ,
न कुचक्र की
चाल रोकते हैं
कर्मठ हाथ

झूठ के जंगल में,
जीने के लिए–
'कंदमूल'
खोदते हैं
कर्मठ हाथ

वर्तमान की आँखें
अतीत के आँसू
डाँवाडोल पैरों पर
चढ़ाती हैं

मुक्के मारता है
यथार्थ का पहलवान
आम और अनाम
आदमियों की
देह तोड़ता
जमीन में जीने के लिए
अधमरा छोड़ता है

9-1-1988

मानव-मक्कारी के

मानव-मक्कारी के
स्वार्थ-ध्वजाधारी ये—
शोषण के
सिद्ध धुआँधारी ये—
विश्रुत व्यापारी ये—
तन के मधुमासी ये—
वासना-विलासी ये—
मायामुखी चाँदनी बिछाते हैं
शासकीय शोभा की
पूर्णिमा मनाते हैं—
झूम-झूम जाते हैं?

आसुरी व्यवस्था के
पोषक-प्रतिपालक ये—
लायक नालायक हैं!

14-1-1988 / 30-8-1989

दिन हो, या हो रात

दिन हो,
या हो रात,
जीवन का डंका बजता है
मेरे मन में!

मैं
रहता हूँ
पूर्ण प्रहर्षित
अपनेपन में,
सत्य-समर्पित
संवेदन के सम्प्रेषण में!

18-1-1988

ये जो अग्रज पेड़ खड़े हैं

ये
जो अग्रज पेड़
खड़े हैं मेरे पास,
जो पतझर में नहीं झरे हैं,
हरदम रहते हरे-हरे हैं,
मुझे प्यार से–
पौरुष से अपनाये,
अपना अनुज बनाये,
फूलों की माला पहनाते
छाया देते–
फल देते हैं
मुझको

महाबली ये–
कालजयी ये–
महाकाल से मुझे बचाये
काव्यकला में
मुझे लगाये रखते हैं

19-1-1989

न जाओ तुम

न
जाओ
तुम–
न जाओ तुम
उसके मुँह के पास

जाओ
तुम,
बस
जाओ तुम
उसकी दुम के पास,
उसे मुरछल बनाओ
और हवा खाओ;
मौज
और
मस्ती से
रोटियाँ चलाओ!

मुँह से शेर,
और दुम से
कुत्ता है वह–

छल और
छद्म से जो,
आदमी की कुरसी पर
चढ़ा हुआ
बैठा है

21–1–1988

बैठी आँख में बैठा सूरज

बैठी आँख में
बैठा सूरज–
राजसूय यज्ञ करता है,
अंधकार में,
अकेले,
दिग्विजय करता है

पांडुर
धरातल–
पस्त और पीड़ित
कलपता है

21-1-1988

आज दिखी फिर मुझे गिलहरी

आज दिखी
फिर मुझे गिलहरी
कई दिनों के बाद,
चिक-चिक करती
दौड़ी जाती,
खड़े पेड़ पर
सरसर-सरसर
चढ़ती जाती,
लगा कि जैसे
याद प्रिया की
दौड़ी आई,
संग-साथ में
उनको लाई

मैंने
देखा,
जी भर देखा;
प्रिया खड़ी थीं,
मेरे सम्मुख,
मिलनातुर बाँहें फैलाये,

मैंने
उनको
बाहु-पाश में
बाँध लिया;
मैंने
फिर से
उनका प्यार जिया
गई गिलहरी,
गई प्रिया

24-2-1988

ठनी ऐसी

ठनी ऐसी
न ठनी
कभी जैसी,
बनी
अब बनी
अनबनी

धनी की गोली
धनहीन को लगी,
धनहीन की हत्या
धनी को लगी

24-2-1988

हे मतिहारे

हे मतिहारे!
हठ-व्रत धारे!
अपशब्दों के व्यंग्य वाण से–
बुद्धिहीनता के प्रहार से–
ध्वंस न कर पाओगे मुझको,
किसी तरह से

तुम
जैविक जग के
पक्षी हो,
शव के तुम
स्वादी भक्षी हो

मैं,
कवि हूँ–
सर्जक तेजस्वी–
सत्य-समर्पित–
चेतनधर्मी

महामूर्ख खगराय!
कभी न छू पाओगे मुझको,
मार न पाओगे तुम मुझको

व्यर्थ तुम्हारे पंजे
व्यर्थ तुम्हारी चोंच
व्यर्थ तुम्हारे वार
तुम जाओगे हार

2-2-1988

सम्पन्न हुई मास्को में

सम्पन्न हुई मास्को में
निरस्त्रीकरण-वार्ता
आतुर निहारने में लगी रही मेरी आँखें,
सुनने में लगे रहे कान,
उस ओर–

जहाँ हुआ था इस सम्बन्ध में,
पाँच दिनों तक विचार-विनिमय
दोनों महाशक्तियों के बीच।
हस्ताक्षर हुए थे जहाँ सहमति और स्वीकृति के–
गोर्बाचोव और रेगन के–
आलेख पत्रों पर
आदान-प्रदान हुआ था पत्रावलियों का।
गूँज उठी थी हर्ष-ध्वनि–
और तालियों की गड़गड़ाहट–
आर-पार सारे संसार में।
आज ही पयान किया रेगन ने लंदन,
हो चुकी बिदाई जब भाव-भीनी
और मिलीं कामनाएँ सदाशयी
पास आईं दोनों महाशक्तियाँ,
खुली-खुली बातें हुई, विश्वव्यापी मसलों पर।

न हुआ कोई भी
अनर्गल आक्षेप या प्रलाप
किसी मुद्दे पर,
मानवाधिकार की समस्या को पेश किया रेगन ने,
उत्तर में अपना पक्ष प्रस्तुत किया–
सत्य बानी बोल उठे
गोर्बाचोव।
पहले तो ध्वंस किया उनने
प्रचारित विसंगतियों को–
जोरदार शब्दों में,
आरोपित आक्षेपों की कड़ियों को तोड़ा
और फिर व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर–
मानवीय मूल्यों की सुरक्षा पर–
अपने महादेश की
पूर्ण प्रतिबद्धता को व्यक्त किया,
सारवान वाणी में।
रेगन ने देखा-सुना-समझा,
सुस्थिर संतुष्ट हुए चित्त से!
उन पर प्रभाव पड़ा
'पुनर्गठन' और 'खुलेपन' का–
नये आये दौर और नये माहौल का,
बुरा नहीं रहा रूस
उनकी निगाह में।
सूर्य जैसे चमक रहे गोर्बाचोव!
सफल हुई

शान्ति के पहले पड़ाव की योजना,
युद्ध का विरोध हुआ,
मेल औ' मिलाप हुआ,
मूल में समाजवाद, मानवीय मूल्यों की
व्यवस्था है—
लोकतंत्री आस्था की
कर्मशील जीवन की
रचना है

3-6-1988

आसपास–दूर-दूर

आसपास–
दूर-दूर–
देश औ' विदेश में,
जहाँ-तहाँ
घूमते-घामते,
खोज में लगी रही मेरी काव्य-चेतना
पाये कविताएँ–
पास आये–
लाये कविताएँ

न मिली–
न मिलीं कविताएँ
लौट आई
मेरी काव्य-चेतना, मेरे पास
थकी और हारी
मुझे हुई वेदना!!
निरक्षर
खुला पड़ा रहा
अनुर्वर, उदास
मेरी कापी का पन्ना

7-6-1988

भा भिंसार उजाला फूला

भा भिंसार
उजाला फूला,
सुख का झूला,
अब, पेड़ों ने
साथ हवा के
जीभर झूला

चिड़ियाँ–
सस्वर
चह-चह चहकीं,
भाव-विभोर हुई, इठलायीं

थप-थप करता
बहता पानी
देता ताल हवाई

नाचे,
मन के
मेरे नटखट
मोर-कन्हाई

8-6-1988

न सूर्य है न सूर्य की धूप

न सूर्य है,
न सूर्य की धूप,
भस्म है भस्म,
गरमागरम भस्म–
शाम के जिस्म से
लगी-लिपटी,
बेचैन किये
भू-मंडल को

दौड़ती-भागती
चली आती है रात–
सिर पर पाँव धरे,
संसार को
आत्मसात् करने!

8-6-1988

घूमती धरती

घूमती धरती,
घूमते-घूमते–
सूर्य से दूर–
और दूर–
होती चली गई,
प्रकाश से वंचित,
तमांध में
डूबते-डूबते–
दृश्य से अदृश्य में
खोती चली गई

आई अब सुबह
तो लौट आई धरती,
सूर्य के सामने,
धूप में नहाई–
मुसकाई

8-6-1988

दिन दस बजे

दिन
दस बजे
मास्को रेडियो से
प्रसारित हुआ अंग्रेजी में
'स्तालिनकल्ट' के विरोध का विवरण–
श्रम-शिविरों में हुई
ज्यादतियों का भंडाफोड़–
नौकरियों के सम्बन्ध में हुई
धुरंधर धाँधलियों का रहस्योद्‌घाटन।
आग्रह किया गया
समाचार-पत्रों से
सचेत रहने को–
राष्ट्रीय दायित्वों को
निर्बाध निबाहते रहने को
न उनकी ओर से अवमानना हो,
न किसी और की ओर से

कहीं भी कोई दायित्वहीनता करे, प्रकाश में लायें,
सरकार तक
जनता की शिकायत पहुँचायें

सुनते-सुनते
आश्वस्त हुआ मैं,
अब अवश्य महादेश में
'पुनर्गठन' और 'खुलापन' होगा

सरकार का ध्यान
समस्याओं के निदान की ओर होगा

9-6-1988

रात देखता-सुनता रहा

रात
देखता-सुनता रहा
दूरदर्शन से आ रहा कवि-सम्मेलन,
संचालन करते दिखाई पड़े
रमेशकुंतल मेघ

एक-के-बाद एक,
मंच पर आते गये कवि
कंठ का कौतुक दिखाते गये कवि
जोश में गड़गड़ाते
और होश में
बड़बड़ाते गये कवि
हंसों की बजाय
कनकौए उड़ाते गये कवि
भीतर से बाहर सरसराते गये कवि
हिन्दी को झूले में झुलाते गये कवि
वाह-वाह पाते गये कवि

समाप्त हुआ
सम्मलेनी चमत्कार
जमीन में लौट आई जीने की नब्ज—
जीने की बहार,
दूर हुआ सिर-दर्द

9-6-1988

नरेन्द्र पुण्डरीक ने दिया

नरेन्द्र पुण्डरीक ने दिया
पढ़ने को
'नया पथ' का नया अंक 5-6
पाकर प्रसन्न हुआ
पढ़ गया
चन्द्रबली सिंह का सम्पादकीय
तन्मयता से
सत्य सम्प्रेषित हुआ,
झूठ धरा-ध्वस्त हुआ,
रोशनी का लोकतन्त्र व्यक्त हुआ

11-6-1988

निष्पंद खड़ा रहा

निष्पंद खड़ा रहा,
पात-हीन पेड़
और मैं अकेला
न दिन ने गुनगुनाया,
न हवा ने थपथपाया,
न कीर आया,
न पंख फड़फड़ाया,
न हुई—न हुई
अनुभूति
मुझे
अस्तित्व में होने की,
जमीन में जीने की,
हरे-भरे होने की

11-6-1988

न आई पास

न आई पास
कोई भी एक कविता!
थक गया मैं—ऊब गया मैं
इन्तजार करते-करते
उसे पाने के लिए जी-जान से तरसते-तरसते

न मिली बाहर उड़ान भरती कोई कविता
न मिली भीतर गुमान करती कोई कविता

न पास आये शब्द
न साथ लाये अर्थ

दिन गया व्यर्थ!
काव्य के अभाव में

12-6-1988

न मिली आज भी

न मिली
आज भी
कोई कविता,

लौट भी आये विदेश से
प्रधानमंत्री
न लाये साथ
मेरे और
देश के लिए
एक भी कविता

10-6-1988

तमाम दिन घोंसले में घुसी रही

तमाम दिन
घोंसले में घुसी रही
मेरी चेतन चिड़िया,
न आई बाहर—
न उड़ी, न फुदकी,
न पेड़ की ओर गई,
न पत्तियों से लगी-लिपटी,
न जाने क्यों—
निश्चेष्ट बनी रही कविता?
न हुई मेरी ही मेरी कविता

18-6-1988

भू-पटल पर उतर आई

भू-पटल पर
उतर आई
जून की तारीख उनइस
दिन हुआ सूरजमुखी देदीप्यमान
धूप चमकी।
कामकाजी
खूबसूरत देश के दर्शन हुए,
किन्तु बढ़ने लगी गरमी,
पेड़ झुलसे,
त्रस्त-पीड़ित हुए पक्षी और लोग
कुटिल निकली
क्रूर निकली
जून की तारीख उनइस

19-6-1988

रात दूरदर्शन में

रात
दूरदर्शन में
देखने को मिली
कालिदास के काव्य-नाटक पर बनी
शकुंतला फिल्म।
दिखाई पड़ी,
घटस्तनी शकुंतला
कण्व के आश्रम में
पेड़ों को पानी देते।
मुग्ध हुआ मैं
प्राकृत परिवेश
और प्राकृत सौन्दर्य पर
भूल गया मैं
कृत्रिम परिवेश
और कृत्रिम सौन्दर्य

19-6-1988

प्रसारित हुआ आज दोपहर

प्रसारित हुआ
आज
दोपहर
आकाशवाणी लखनऊ से
विद्यार्थियों के लिए
एक कार्यक्रम।
मैंने इसे
ध्यान से सुना।
देर तक बोलता रहा तोता–
देर तक बोलती रही मैना–
आदमियों की बोली में
आदमियों से अच्छा।
कैसे चलें
सड़कों पर
अच्छी जानकारी दी
लड़कों को।
मैना तो प्रियम्वद रही,

अक्खड़ रहा तोता
और गुस्सैल भी थोड़ा

प्रस्तुति यह अच्छी लगी
बिल्कुल नये ढंग की

20-6-1988

रात दूरदर्शन में देखने को मिला[1]

रात
दूरदर्शन में
देखने को मिला
'नम:शिवाय'[1] की प्रस्तुति में
'फुल्ल कुसुमित' का नृत्य,
सर्वांग सुन्दर हुई अभिव्यक्ति

प्रणम्य मुद्रा के उपरान्त,
अभंग भाव-भूमि में
डिमिक-डिमिक डमरू बजा
और सम्पन्न हुई
शिव की सस्वर व्यंजना

सार्थक
साकार हुई
शास्त्रीय गायकी

भाव से विभोर हुआ
धन्य हुआ मैं
धन्य हुए देश और काल
मेरे ही समान

20-6-1988

---

1. कार्यक्रम का वास्तविक शीर्षक 'ॐ नम: शिवाय' है। अशोक त्रिपाठी

गत रात 'दूरदर्शन' में देखा

गत रात 'दूरदर्शन' में देखा
प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम

प्रश्न करते रहे
साहित्य अकादमी के मंत्री
श्री इन्द्रनाथ चौधुरी
उत्तर देते रहे
'चेम्मीन' और 'पल्लवन' उपन्यासों के लेखक
विश्व-विश्रुत श्री पिल्लई
मलयालम भाषी
केरल प्रान्त के निवासी

संवाद चला अंग्रेजी में
एक-एक प्रश्न था एक-एक बौद्धिक गाँठ
एक-एक गाँठ को काटते-खोलते रहे
श्री पिल्लई।
घेर-घेर
बार-बार करते रहे घेराव
प्रोफेसर चौधुरी,
बार-बार तोड़ते रहे घेराव श्री पिल्लई

तदुपरान्त,
कई बार,
मार्क्सवादी भूमिका का प्रश्न उछाला
प्रोफेसर चौधुरी ने
बार-बार दे-देकर उत्तर
सार्थक सिद्ध करते रहे
श्री पिल्लई।
मार्क्सवाद की भूमिका की प्रासंगिकता,
मार्क्सवाद को अपने लिखे का आधार बताते रहे
जीवन-व्यापी यथार्थ के प्रवाह को
मार्क्सवाद की दृष्टि से सम्प्रेषित करते रहे
श्री पिल्लई,
मानवीय गुण-धर्मों की रुचिर रचनाओं की
महत्ता उद्‌घाटित करते रहे
श्री पिल्लई

असफल हुए
अपने प्रवीन प्रयास में
प्रोफेसर चौधुरी

सफल हुए
अपने नवीन प्रयास में
श्री पिल्लई

सर्वोत्तम रही
वैज्ञानिक बोध की
मार्क्सवादी चिन्तन की चेतन प्रक्रिया
श्री पिल्लई की

प्रकाशोल्लास हुआ अंधकार में
संस्थापित हुआ शीर्षस्थ सत्य,
विस्थापित हुआ मूर्धन्य झूठ,
मनोल्लास हुआ मुझको
पसन्द आया
संवाद का
यह वैचारिक प्रसंग

21-6-1988

दिन में आये दुर्लभ बादल

दिन में आये
दुर्लभ बादल
प्यार-प्यार का बरसा पानी
खूब नहाये पेड़
पात-पात हो गये प्रमत्त
ताप-मुक्त हो गये तने
पानी-पुलकित हुई जमीन
घर-बाहर की
मिटी जलन
हवा चली तो जैसे
सुख की साँस चली

पावक-प्रिय
भस्मांगी जून
अब वर्षाङ्गी हुई अनूप
कला-कलापी मन भी मेरा
पंख खोलकर नाचा

22-6-1988

न घटा कुछ ऐसा कि लिखता

न घटा कुछ ऐसा कि लिखता
कविता में उसे
व्यंजित करता
रचना की उपलब्धि में
थिरकता

23-6-1988

पैदा तो हुआ

पैदा तो हुआ
जुल्मी जून का बेटा, इतवार,
पर बाप पर न पड़ा,

बाप तो न रहा
किसी का यार-हमदर्द,
बस आग-ही-आग जलाये रहा—
दहका और दहकाये रहा—
लपट में लिपटा-लिपटाये रहा

न बचे आदमी
न बचीं औरतें
न बचे बच्चे
न बचे बूढ़े
न बचे जवान
न बचे पेड़
न बचे पक्षी
न बचे पशु
सब को
सताये-सताये रहा बाप
आतंक जमाये रहा बाप

सूखे पोखर–
सूखे ताल-तलाव
कुएँ-बावड़ी सूखे–
सूखे नाले–
जल के स्रोत–
'केन' हमारी दुबराई
क्षीण हुई छिछलाई,
लेकिन जब से आया बेटा
अर्द्धरात्रि के बाद से
दिन ढलने तक,
उसने ठंडी हवा चलाई–हवा खिलाई,
सूरज को भी रोका उसने
हो न सका अगिया बैताली

प्रमुदित हुआ जहान
पाकर ऐसे बेटे से वरदान
बजती रही
समय-सारंगी
बेटे के संस्पर्शों से

मैं
बूढ़ा भी
हुआ युवा
मुझे मिला
अब इस बेटे से
आशा औ' विश्वास
जीने का उल्लास

26-6-1988

इतवार का भाई सोमवार

इतवार का भाई सोमवार,
जब,
आज सुबह दिखा,
चंचल चमकने लगीं पेड़ों की पत्तियाँ,
शुभागमन में
गाने लगीं
चिड़ियों की टोलियाँ

मंत्र मारता रहा सोमवार,
दिन दस बजे तक
चर-अचर को
वशीभूत किये

ज्योंही बढ़ा ताप—सूर्य का प्रताप
उद्दंड हुआ सोमवार
कर चला धूल से धूसरित संसार—
प्राण-पीड़क अत्याचार

न रहा अच्छा जो था अच्छा
न रहा प्यारा जो था प्यारा
सोमवार के मारे—
सब जन हारे

27-6-1988

'होने' में 'न होना'

'होने' में 'न होना'
व्यक्तियों का अन्तर्मुखी होना है
चेतना के पूर्ण सौर-मंडल से अनभिज्ञ होना है
दृश्य से अदृश्य में
सत्य से असत्य में समाहित होना है
अपने को अपने आप ठगना और खोना है
दुनिया को ठगना है—खोना है
बुद्धिहीन होना और लक्ष्यहीन होना है
निजता की नास्तिमुखी कारा में कैद पड़े सोना है
वहाँ नहीं देश-काल—
वहाँ नहीं प्राण का प्रबोधन है
हास्य नहीं—वहाँ नहीं रोदन है
नहीं वहाँ करतब है—करनी है
भाव नहीं—भाषा नहीं—
ज्ञान की पिपासा नहीं
नहीं-नहीं वहाँ नहीं-नहीं है
वहाँ नहीं संस्कृति है
नहीं वहाँ रूप-राग तारों की झंकृति है

29-6-1988

अन्तिम दिन है, आज

अन्तिम दिन है,
आज जून का!
अब तक मैंने
उसी-उसी का एक-एक दिन–
अविकल जीकर
उसी उसी के जिये जिये को–
उसी उसी के ग्रहण किये को–
उसी रूप में व्यक्त किया है,
उसको कुंठित नहीं किया है
सबको निश्छल सौंप दिया है

30-6-1988 / 1-7-1988

सूर्य की अभिव्यक्ति हुई

सूर्य की अभिव्यक्ति हुई
रूप-रची सृष्टि हुई
दिन हुआ
देश में
प्राकृत परिवेश में
व्याप्त हुआ–
कर्मशील
प्राणवंत
जीवन

लोकमुखी
संवेदन
सम्प्रेषण

जाग उठीं
शब्दों में अर्थों की ध्वनियाँ–
कंजमुखी कान्तिकाय छवियाँ
व्यक्त हुईं
मानव की
आत्मिक अनुरक्तियाँ

17-7-1988

आज इतवार है

आज
इतवार है
वैसे तो मेरे लिए
रोज इतवार है

कोई दिन निश्चित नहीं
पढ़ने और लिखने का

जब चाहा आया कुछ
पढ़ने लगा उसने
जब चाहा भाया कुछ
लिखने लगा उसको

न हुआ मन, न पढ़ा
न हुआ मन, न लिखा

उठा नहीं, बैठा रहा
जैसे गरियार बैल
जोता नहीं कविता के खेत
खाता रहा 'औगी' की
लगातार मार
लिखने से किये रहा पूरा इनकार

24-7-1988

नीड़ छोड़-छोड़ उड़े

नीड़ छोड़-छोड़ उड़े
जाने कहाँ
पक्षियों से
आये-गये आठ दिन

नहीं शब्द नहीं अर्थ–
बानी बने,
गूँजे नहीं
आये गये आठ दिन

मोद-मत्त मेघ नहीं
आये झरे
रीते रहे
आये गये आठ दिन

26-7-1988

होश में बेहोश हूँ मैं

होश में
बेहोश हूँ मैं
गंध पीकर फूल की
और वह
मुसका रहा है
होश में खामोश, खुश

26–9–1988

तारों ने ऊपर से देखा

तारों ने ऊपर से देखा,
सन्नाटे के महासिन्धु से उठी हिलोर,

भीतर से
ऊपर को उछली
मछली एक

मैं
सोते से जागा,
मैंने पाई
अपने भीतर
तारों की मुसकान,
महासिन्धु की मीन

रात हुई
मुझको वरदाई

29-9-1988

तुम न आओ धूप में

तुम
न आओ
धूप में
धरती गरम है

फूल
पाँवों के
बहुत नाजुक
नरम हैं

आ सकोगी
तुम
यहाँ तक
यह भरम है

8-10-1988

प्रिया प्रियम्वद

प्रिया प्रियम्वद
पार्वती का
जन्म-दिवस है आज

अपनी
बाँहों में
मैं उनकी
याद समेटे
भेंट रहा हूँ उनको

अंकित करता हूँ
मैं चुम्बन
उनके दीपित माथे पर

रंजित करता हूँ—
जग-दर्शन
छवि-दर्शन से उनके

18-11-1988 अक्षय नवमी

मैं अटका पत्ता हूँ[1]

मैं
अटका पत्ता हूँ
अपने
वृद्ध पेड़ से
लटका

टूटे बिना
न उड़ पाऊँगा,
टूट गया तो उड़ जाऊँगा,
नहीं पकड़ में आऊँगा

पतझर से पहले
मैं पतझर
अभी न लाऊँगा
कहीं न जाऊँगा

19–8–1988

---

1. कमलाप्रसाद को पत्र भेजा

चुप हूँ फिर भी

चुप हूँ
फिर भी
बोल रहा है
मेरा अन्तर,
हहर-हहर कर
महाकाल को
ध्वस्त-ध्वस्त कर
प्रतिभा-पौरुष की ऊर्जा से
लहक-लहक कर

3-12-1988

तुम वहाँ हो-मैं यहाँ हूँ

तुम वहाँ हो
मैं यहाँ हूँ;
फासला
फिर भी नहीं
यह फासला है,
पास होने का
दिली एहसास
जो है

9-12-1988

काल के फैलाव का लम्बा सफर है

काल के फैलाव का
लम्बा सफर है
याद चलकर
पाँव-पाँव
आ गई तत्काल

पा गया तुमको सदेह
भर गया
सुख-शान्ति से फिर
मौन मन का गेह
पा गया मैं
प्राण-पुलकित नेह

9-12-1988

पकड़ में आई मछली

पकड़ में आई मछली
जलाशय से बाहर
जमीन में नहीं जीती

पकड़ में आई कविता
मनोजल से बाहर
जमीन में जीती है

28-12-1988

क्रोध तुम्हारा मैं पी लूँगा

क्रोध तुम्हारा मैं पी लूँगा
जैसे
पानी पी लेता है
प्यासा खेत

तुम देखोगे
खड़ी फसल-सा फबता
हर्ष-हर्ष से
मुझको हँसता

27-1-1989

छोटे-बड़े कई मोड़ों के

छोटे-बड़े
कई मोड़ों के
पथरीले-सर्पीले पथ पर चढ़ती,
दौड़ लगाती
कार हमारी चक्कर खाती
बड़े मजे से 'ऊटी' पहुँची

ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की ऊँचाई पाये
जगमग-जगमग ज्योति जगाये
होटल 'ताज सेवाय' मिला
हम ठहरे

लगा कि हमने
यात्रा करते-करते अपनी
कालिदास के प्रकृति-काव्य के
सर्ग पढ़ लिये,
सुख-सुषमा के छंद जिये

10-3-1989

पात-पुंज सिर ऊपर धारे

पात-पुंज
सिर ऊपर धारे
केश-कुंज से रूप सँवारे
बृहत् बाहु के पेड़ खड़े हैं
सत्य-सनातन
तरुण, पुरातन,
धन्य धरा से अम्बर साधे
ऊटी के जाये, मनभाये
षट ऋतुओं का जीवन जीकर
पुष्ट हुए संघर्ष झेलकर,
तम-प्रकाश के खेल
खेलकर
तपः पूत ये विध वेत्ता हैं
उद्भिज जग के अभिनेता हैं

13-3-1989

ऊदे नीले श्याम शरीरी

ऊदे
नीले
श्याम शरीरी
बादल–
नभ में पसरे-छाये
दिनकर को असमर्थ बनाये
पूरी तरह छिपाये
रंग-राग से हीन सबेरा लाये

कंज ज्योति का नहीं खिला
मोद मही को नहीं मिला
सुर-संवेदन नहीं हुआ
छवि ने क्षिति को नहीं छुआ

13-3-1989

सूरजमुखी दुपहरी ने तो

सूरजमुखी दुपहरी ने तो
आलोकित कर दिया प्रकृति का वैभव
रजत-जयंती हुई द्रुमाली,
पुलकी अनहारी हरियाली

ऊँचाई पाये पेड़ों का पौरुष
काल-विजेता मुखर हुआ,
ऊटी का सौन्दर्य
प्रतिष्ठित सुघर हुआ

मंद माधुरी हवा-समय की साँस चली
संवेदन को सुख-संस्कारी सुगति मिली

कलरव कूजन हुआ काल का मन में मेरे
टूट गये जग की जड़ता के बंधन घेरे

13-3-1989

ऊँचे पेड़ों की ऊँचाई से भी ऊँची

ऊँचे पेड़ों की ऊँचाई से भी ऊँची ऊँचाई के पार
सोन-चम्पई रूप शाम का
नभ-मंडल में व्याप गया

सिर पर छवि का छत्र लगाये
संकुल सौम्य धरा बौराई
मुझे मुग्ध अभिभूत किये

'ऊटी' के पर्वत-प्रदेश की
प्रकृति षोडसी
मंत्र मारती–
जादू करती
मेरे मन में समा गई

13-3-1989

नीलगिरी पर्वत-प्रदेश के

नीलगिरी पर्वत-प्रदेश के
मोद-मंच की
प्रकृति-पुरस्कृत प्रमदा ऊटी
मैंने देखा
मेरे मन में उसी-उसी का वास हो गया
उसी उसी का मेरा इन्द्रिय-बोध हो गया

अब पाया मैंने अनपाया रूप-विलास
पत्थर हँसते मिले कमल का हास

14-3-1989

भावावेशी उन आँखों की

भावावेशी
उन आँखों की
मूक पुकार
गहरे सागर से गहरी कर रही पुकार,
मैं–
पुकार में डूबा
भूला यह संसार
मैंने पाया
विश्व-विमोहन प्यार अपार

17-3-1989

न पहुँचे वहाँ पहुँचना था जहाँ

न पहुँचे वहाँ
पहुँचना था जहाँ

बहे तो
वाक्-प्रवाह में
ऐसा बहे
कि नीचे से और नीचे
पहुँचे

न हुए गंगा
न हुए जमुना
लोप हो गई उनकी सरस्वती

16-9-1989

मोती-मार प्यार का पानी

मोती-मार प्यार का पानी
बादल बरसे आज
महानगर मद्रास में
चार बजे दुपहर के बाद

इसके पहले–
रहे व्योम में बगरे
जैसे खेतों में बगरे हों बैल–
कोई धौरा,
कोई कजरा,
कोई उजियर–
छोटे-बड़े
डौल के
सुन्दर और असुन्दर
कड़ियल औ' गरियार

बरसे भी तो ऐसा बरसे
जैसे हों पूरे कंजूस
मक्खीचूस
गरज-तरजकर चले गये मनहूस

छोड़ गये
अधभीगा करके
मिटा न तन का ताप
बुझी न व्याकुल प्यास,
शाम हुई तो हुई उदास

5–7–1989 / 19–9–1989

रात, देर तक

रात
देर तक
तड़क-तड़ककर
तड़-तड़ तड़-तड़ मार-मार बौछार,
बड़ी-बड़ी कड़ियल बूँदों का
बरसा पानी–
पानी-पानी
तब भी
टूटा नहीं अँधेरा
घिरा रहा चहुँ ओर अँधेरा–
घना-घना
मुँहजोर अँधेरा–
डाले डेरा–
रोके-रोके रहा सबेरा
लेकिन–

चलता रहा
स्वप्न का फिर भी फेरा–
सक्रिय होती रही चेतना
भीतर से बाहर आने को,

प्रगति पंथ पर बढ़ जाने को,
प्राणवंत पौरुष के बल पर
मानवीय गुण-धर्मी रचना
रच पाने को—
सच पाने को।

6 /7, 19-9-1989

वह नहीं लड़ता अपनी लड़ाई

वह
नहीं लड़ता
अपनी लड़ाई
उसे
लड़ती है
उसकी उड़ाई
पतंग—
जमीन में नहीं—
आसमान में

जीत की
वाह-वाह
होती है उसकी
जमीन में—
आसमान में नहीं

16-9-1989

सुबह हुई पर धूप न निकली

सुबह हुई
पर, धूप न निकली
नभ का गुम्बद चमक न पाया
बैठा रहा विपन्न मूढ़-सा
कान्तिहीन, कुण्ठित प्रकाश को ओढ़े
प्रकृति लीन है
अति संकोची अपने पन में
क्षीण, क्षुब्ध है पवन-प्रकम्पन
वंचित हैं छवि के दर्शन से
जग-जीवन के अनगिन लोचन

महानगर
निरलस जीता है
जिये-जिये को
लिये-दिये को

आये
छाये
काले बादल
चारु चेतना रहे छिपाये

लेकिन,
बोले
फिर भी फूल–
रंग-विरंगे मनहर बोल
मैंने पाये शब्द-अर्थ अनमोल–
रचना रचने के अनुकूल

27-7-1989

सहज लजीली पंखुरियों की

सहज
लजीली
पंखुरियों की
लिली खिली

मौन बजी
दुन्दुभी देह की,
गूँज उठीं
ध्वनियाँ सनेह की

प्राकृत
सत्ता के प्रहर्ष से
तृप्ति मिली

23–9–1989

बाहर कोयल कुहक रही है

बाहर
कोयल कुहक रही है

भीतर
धरती बहक रही है

इस कुहकन-दहकन के बीच
खुद जीते हैं
मुझे जिलाये,
क्षत्र लगाये—
मुझे बचाये
मेरा सीना
ताने पेड़

24-9-1989

टूटे तारे—आँसू हुए हमारे

टूटे तारे—
आँसू हुए हमारे
हमको प्यारे

सत्य सँवारे
हम जीते
संज्ञान सहारे,
दुख-दर्दों से कभी न हारे

8-9-1989

न ज्ञान की आँख

न ज्ञान की आँख खोलते हैं दिवाकर,
न विवेक की तुला तोलते हैं तुलाराम,
न यथार्थ को
परमार्थ से भोगते हैं,
भगवानदीन,
न नींव खोदते हैं
दुर्व्यवस्था की
अवधबिहारी,
बोलते-बोलते जो बोलते हैं
विषाक्त बोलते हैं दयाराम,
स्वार्थ से सिक्त दयार्द्र नहीं होते दयाराम,
निकृष्ट-से-निकृष्ट
काम करते हैं तिलकधारी,
जघन्य-से-जघन्य
अपराध करते हैं
प्रसन्नकुमार,
विषाद में पड़े
माथा पीटते रोते हैं
विक्रमादित्य
सांस्कृतिक चेतना से
खोखले होते हैं
प्रकाश पंडित

23-9-1989

ये मेरे जाने-पहचाने

ये
मेरे
जाने-पहचाने
बने अजाने
मुझे देखते
बिन पहचाने,

आँखें हैं
पर नहीं मिलाते,
दूर खड़े–
ठिठके
सकुचाते,
पास पहुँचने से कतराते

बुरा हाल है,
अलग कमल है
अलग नाल है

26-9-1989

हुआ जो हुआ है

हुआ जो हुआ है
मुझे न हुआ है
उसे हुआ है
जो हुए का हुआ है
हुए से बाहर न हुआ है
हुए की धाक अब जमाये है
हुए का आसमान
सिर ऊपर उठाये है
जमीन को पाँव तले दबाये है
न दबा है—
न दाब में आया है
विरोधियों को उसने
हुए की धूल चटाया है

26–9–1989

आदमी जेब काट रहा है

आदमी जेब काट रहा है–
जिसकी जेब कट गई है
वह भी आदमी है
जिसने जेब काटी है
वह भी आदमी है
समझ में नहीं आता–
आदमी कौन है?

आदमी खोपड़ा तोड़ रहा है–
जिसका खोपड़ा टूट रहा है
वह चुप है
जो खोपड़ा तोड़ रहा है
वह कहता है–
यह आदमी नहीं
बदमाश है

कवि समकालीन हो रहा है–
कहता है : आदमी हो रहा हूँ
पत्नी को मारता है–
दारू पीता है
पत्नी कहती है
वह आदमी नहीं है

फिर भी वह कहता है : मैं आदमी हूँ

आलोचक कह रहे हैं
यह कविता नहीं है–
यह समकालीन नहीं है–

कवि कहता है : यहीं समकालीन है
एक कहता है : यह कविता है
एक कहता है : यह कविता नहीं है

कविता पढ़ता आदमी
कहता है : इसमें आदमी नहीं है

29–9–1989

आदमी डूबता है

आदमी
डूबता है
न डूबने की प्रक्रिया में
वहाँ
न जहाँ नदी है—
न समुद्र

है,
बस, है,
दिक्भ्रमित व्यवस्था का
आ-क्षितिज परिप्लावन

4-10-1989

न लिखे को लिख रहा हूँ मैं

न लिखे को
लिख रहा हूँ मैं
कि
न लिखे से बाहर
लिखे में
वह आये
असम्भव से सम्भव–
अप्राप्य से प्राप्य हो जाये
निष्प्राण से
सप्राण की
अभिव्यक्ति हो,
साकार से
निराकार को
झुठलाये,
अस्ति को
आत्मबोध से
हरहराये,
चेतना की सृष्टि को
समष्टि के
सत्य से
जगमगाये

10–11–1989

इधर पूर्व से झाँका सूरज

इधर
पूर्व से
झाँका सूरज,
उधर
प्रतीची तक
जा पहुँचा
रंग-रूप रवि का अनुराग,
जहाँ
हुए मुसकान विमंडित
छिटपुट फैले
बादल,
तभी
बादलों के पीछे से
हँसता-हँसता
झाँका चाँद,
मैंने
देखे
जग-जीवन के
प्राची और प्रतीची छोर
एक दूसरे से
अनुप्राणित आत्म-विभोर

16-11-1989

मैं नहीं सूरज

मैं नहीं सूरज
दिया हूँ
नेह की बाती जलाये,
कुछ उजाले से
अँधेरा कुछ मिटाये,
आपको अपना बनाये
और अपने को जिलाये[1]

1–1–1990

1. एहसान आवारा ने मुझे नव वर्ष की बधाई का पत्र भेजकर सूरज कहा। मैंने उन्हें इस कविता द्वारा उत्तर दिया और अपनी बात कही।

दो जनवरी के दिन को सम्बोधित

तुम आये तो तुम भी लाये
कल के जैसा
आसमान से धरती तक लटकाये कोहरा,
महा प्रतापी सूर्य-वंश की
कीर्ति पताका साथ न लाये

आतुर आँखों ने देखा तो उषा न देखा
उसकी हतप्रभ छाया देखा
पेड़-पेड़ को
अपनेपन में खोया देखा
पात-पात को पूरी तरह प्रवंचित देखा
निहुरे-निहुरे
घुटने टेके हुए पवन को
शीश झुकाये लज्जित देखा
जल को निर्जल
थल को निर्थल जैसा देखा
और अगिन को, भस्म लपेटे,
चुप बैठे गोरसी में देखा
नर-नारी को, देह छिपाये,
गठरी होकर ठहरे देखा
नीड़-निवासी चिड़ियों का दल

नीड़ों में ही बंदी देखा
उड़ा न बाहर आया चहका,
खुशियों की बानी-बोली का
स्वर-सम्मोहन उमड़ न पाया
लेकिन, दुपहर होते-होते
सूर्य प्रतापी आ धमका, तब
कोहरा छँटकर क्षीण हुआ
और धूप के शुभागमन पर लोप हुआ

आँखों ने दुनिया को देखा
दृश्य अदृश्य रहे जो अब तक
आलोकित हो उभरे
तप्तकाय हो गई प्रकृति अब शीतकाय से
लोक धर्म की क्रिया चली अब कर्मकाण्ड से
जीवन की संजीवन क्षमता से
अभिसारित सृष्टि हुई

2-1-1990

बोगनबेलिया को फूली देखकर

द्वन्द्व में
निर्द्वन्द्व जीवन-ज्वालवत् सर्वांग फूली
रक्तवर्णी पंखवाले फूल खोले
तितलियों से
निर्गन्ध होकर भी
सुगन्धित आत्म-गंधी चेतना से
झूमती है!
कुहिर ने घेरा–
अँधेरे से डराया–
भ्रांतियों से डगमगाया–
कर न पाया किन्तु उसको
भूमि-लुंठित,
वह रही अविकल
अकुण्ठित,
प्राणवंत
सजीव
रूप से संपुष्ट,
आन्तरिक अनुरक्ति की
अभिव्यक्ति

4-1-1990

कुंदहासी चाँदनी है और मैं हूँ

कुंदहासी चाँदनी है
और मैं हूँ
नहीं कोई दूसरा है
व्यथा-बाधा नहीं कोई
नहीं कोई वर्जना है
नहीं कोई तर्जना है
नहीं कोई गर्जना है
नहीं कोई भर्त्सना है
नहीं कोई
पारलौकिक
या अलौकिक
अर्पना है

मुक्त है मन
शुद्ध है तन
चारु चिन्तन से चमकती
पद्मिनी है
मातृहृदया भूमि की
यह भामिनी है
और मैं हूँ
नहीं कोई अर्गला है
जिन्दगी जीवित कला है

5-1-1990

अरे धूप महरानी आओ

अरे धूप महरानी आओ
ताप-तपोधन लाओ,
दुष्ट दनुज जाड़े को मारो
व्यापक शीत-प्रकोप मिटाओ,
ठिठुरे-ठिठुरे
बँधे हुए जो गठरी जैसे
खोलो—उनको मुक्त करो
प्यार-प्यार से
देह-देह के कंज खिलाओ
सुख का झूला धरती झूले
पेंग बढ़ाये—
अम्बर चूमे
पंख पसारे उड़ें पखेरू
स्वर-संगम का
प्राकृत तीरथराज हो,
हृदय-हृदय की काशी गूँजे
निर्भय शंख निनाद हो
श्रम के शूर
समर में उतरें
विजय-वाहिनी करनी से
उद्धार हो,

बाधा-विघ्न-विषाद न व्यापे
मुद-मंगल की सृष्टि हो
रवि-रागी महिमा से मंडित–
दिक्‌दिगन्त भूमंडल हो

6-1-1990

आते-आते कल आई तो

आते आते कल आई तो
सकुचाते-शरमाते आई–
धूप, धरा के धूमिल घर में,
नहीं शान शौकत से आई–
नरम–
मुलायम–
झीनी-झीनी
ओढ़नी ओढ़े,
कसकर अंगिया बाँधे,
झूमर–
झुमका
गहना-गुरिया एक न पहने आई
लगता है
सूरज ने डाँटा
भाग दौड़कर जल्दी आई
आसमान से बेमन उतरी,
उतरा मुँह दिखलाने आई,
खुलकर ठुमुक न पाई,
दरी बिछाये–
चुप-चुप बैठी रहने आई।
मैंने देखा तो मन मारे उसको देखा,

देख-देखकर
रत्ती भर भी रीझ न पायी
शाम हुए तक
जैसे-तैसे दिन भी बीता
रात हुई तो हुआ अँधेरा,
दुनिया डूबी—मैं भी तम में डूबा,
थाह बहुत ली—
थाह न पाई,
मिली न सीपी—
मिला न मोती,
प्रकृति बहुत अनुदार रही,
केवल अपने जीवन-बल से
जीकर मैंने
नई सुबह को पायी,
वह मुस्काई,
मैं मुसकाया,
हम दोनों ने
प्यार-प्यार से
दुनिया को अपनाया

8-1-1990

अरे, धूप महरानी!

अरे, धूप महरानी!
आओ आओ चतुर सयानी,
दिव्य सूर्य का
देव मुकुट,
चमकाओ,
हीरक किरनों की–
माला लहराओ,
ताप-तपोधन लाओ!
आओ,
आओ,
चतुर सयानी
आओ,
हड़कम्पी यह शीत मिटाओ,
हमको
सबको
ज्योति-ज्योतिमय कर दो
कर्म-कला में हमें लगाकर
निर्भय कर दो

9-1-1990

जय मुंशी महराज की![1]

जय मुंशी महाराज की!

मिले बन्दगी

कल-परसों की, आज की,

नये साल ने कोहरा मारा–

सूरज हारा

ऊपर से ठंडक चढ़ बैठी,

नीचे गिरा–

शून्य से नीचे

बेबस होकर

अपना पारा

फिर भी,

तुमने

फूल खिलाये,

मुझे भेजकर मुग्ध कर लिया

---

1. नये वर्ष की शुभकामनाओं का 'मुंशी' (रामशरण शर्मा) का कार्ड पाकर, उस पर चित्रांकित फूलों और तितली को देखकर यह कविता लिखी और 'मुंशी' को दिल्ली भेजी। इसे 'मुंशी' ने अपने 'सचेतक' फरवरी 1990 के अंक में पृष्ठ 11 पर दाहिनी तरफ प्रकाशित की।

पर खोले तितली ने मुझको प्यार दिया
नया साल भी रंगत बदले फूल खिलाये,
खुशबू जीवन को महकाये

12-1-1990

जब अच्छा भी न लगे तुम्हें अच्छा

जब अच्छा भी न लगे तुम्हें अच्छा
जब खराब भी न लगे तुम्हें खराब
जब आदमी न लगे तुम्हें आदमी
जब जानवर न लगे तुम्हें जानवर
जब समय भी न लगे तुम्हें समय
जब पानी भी न लगे तुम्हें पानी
जब पहाड़ भी न लगे तुम्हें पहाड़
जब दिन न लगे तुम्हें दिन
जब रात न लगे तुम्हें रात
तब
तुम
अक्ल के बंदे
अक्ल के अंधे होते हो
अस्ति और आस्था के
टूटे हुए कंधे होते हो।

8-2-1990

बोगनबेलिया

तेजस्वी सूरज से तापित
मेरे आँगन की क्यारी में
एक पाँव से खड़े-खड़े–
ऊपर अपना तना उठाये,
बीसों लचकीली बाहों को
अपने चारों ओर झुकाये
पाँव तले तक
अपना घेरा आप बनाये
गोलाकार देह को साधे
मनोल्लास से झूम रही है
फूलों की
अरुणाभ तितलियों से
अनुरंजित
रवि की ऊर्जा से रूपायित
इसने मुझको वरण कर लिया!
मैंने इसको वरण कर लिया!
हर्ष-हर्ष का झूला हमने
जी भर झूला,
महाकाल का संकट
हमें न हूला

13-4-1990

कोई आये या न आये

कोई आये
या न आये
मैं
अकेला ही जिऊँगा इसी घर में
चेतना मेरी प्रबल है
सत्यदर्शी मैं सबल हूँ,
मैं नहीं अनयन हुआ
अब भी नयन से देखता हूँ–
मोद–मंगल रूप रम्या मेदिनी को
संघर्ष–रत श्रमशील जन को

लोक–लीला
प्रेरणा देती मुझे,
मैं
लोक–लीला
लिख रहा हूँ
काव्य की अभिव्यक्तियों में
जी रहा हूँ

13–5–1990

मैं अकेला भी नहीं

मैं अकेला भी नहीं हूँ मैं अकेला
साथ है
मेला समय का रंग रेला

16–5–1990

मैं समय को मारता हूँ

मैं
समय को
मारता हूँ
शब्द-बेधी बाण
काव्य की
नव सृष्टि का
मैं लड़ रहा संग्राम

वृद्ध होकर भी
नहीं मैं वृद्ध हूँ निस्तेज

शून्य की
हठधर्मिता
मैं कर रहा हूँ
ध्वस्त,
सत्य
शिव
सौन्दर्य की मैं
कर रहा अभिव्यक्ति

17-5-1990 दोपहर

कविता जीवन से जन्मी है

कविता
जीवन से जन्मी है,
यह जीवन का
सत्य समर्पित बोध है
भ्रम या भ्रान्ति
नहीं है कविता,
शब्द अर्थ की
शुभ संहति का शोध है

10–7–1990

सत्रह दोहे

पान - फूल पाती खुली, जगमग जागी जोत।
'अक्षर' पढ़ पावत नहीं, कागा - कीर - कपोत॥ 1-9-1980

माहुर मुख मानुस बने, बैर-बीर बलवान।
बानी बोलत बेधते, हा-हा करत जहान॥ 1-9-1980

'फकिरा' आखर - अरथते, करत कुबेरी काम।
गुरुवर गिरि पै चढ़ति है, लहरति लचकति बाम॥ 1-9-1980

आस न आसन, भारती, बास न बासन छाँह।
आप न आपन आतमा, थाह न थाहत बाँह॥ 2-9-1980

बनपाँखी बेधत गगन, चीरत काल कठोर।
उड़त जात ऊँचे चढ़त, तऊ न पावत छोर॥ 2-9-1980

मेघन ब्याही बीजुरी, कला कलापिन कीन।
मुदित मेरु मोहित मही, सुरचापी सुख लीन॥ 2-9-1980

दरक-दरक फाटत हिया, बिजरी बिछुरति जात।
रोय-रोय बादर झरैं, भुईं पय पाय अघात॥ 2-9-1980

घन में नाचै बीजुरी, नभ में बाजै ढोल।
झरति झराझर झूमि कै, वारि वारुणी लोल॥ 3-9-1980

घन घहरत, कहरत समय, गल-गल पानी होत।
छलति छिपति बिजुरी रहति, आनाकानी होत॥ 3-9-1980

गगन गुनत, धरती सुनत, बनपाँखी के बोल।
हरखि-हरखि लहरति जियति, नदिया करति किलोल॥ 10-9-1980

भोग भूमि बाहर मिली, भीतर चेतन प्रान।
समरथ-साहस के धनी, तोरत काल-कमान॥ 12-9-1980

वारिधि धारै अंक में, वारिधि धारै शीश।
नीर हार धारै हँसति, पुहमी देत असीस॥ 20-9-1980

पहिरे सारी रेशमी, तऊ अंग झलकाय।
करुन कपोती चाँदनी, रही अवनि पै छाय॥ 20-9-1980

बाजी बल मानत नहीं, काम न करत लगाम।
भूमि भार छाँड़ै उड़त, नामी होत अनाम॥ 21-9-1980

महके जागे केवड़ा, बहकी उड़ी सुवास।
यामा श्यामा चाँदनी, बिलसति लास विलास॥ 21-9-1980

पानी पौरुष का बली, बरसत मारत बान।
बेध-बेध पीरा हरत, भीजत हरखत प्रान॥ 21-9-1980

झूठ 'मूठ' ऐसी चली, साँच मर्‌यो मुँह बाय।
न्यायी कर पावै नहीं, देहरी - दीपक - न्याय॥ 25-9-1980

❐❐

केदारनाथ अग्रवाल
का
रचना-संसार